International Journal of Scientific Research in Science and Technology
© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 11 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भू–सम्पत्ति का स्वरूप

डॉ० प्रियंका कुमारी
एम.ए., पीएच.डी.
इतिहास, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर।

ब्रिटिश शासन काल के दौरान बिहार में स्थायी बन्दोबस्त की कृषि भूमि प्रणाली अस्तित्व में थी। वह 1793 में लागू की गई थी और 1950 में बिहार भूमि सुधार अधिनियम के लागू होने पर समाप्त हुई। यह प्रणाली ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1765 ई. में मुगल सम्राट शाह आलम द्वारा दीवानी प्रदान किये जाने से 1786 तक बहुत सारे प्रयोग किये जाने लगे और उस समय की परिस्थितियों की बाध्यताओं के फलस्वरूप अमल में लायी गई थी।

दरअसल इस बीच की अवधि में अंग्रेजों ने कतिपय सवालों के जबाव हासिल करने का प्रयास किया। भूमि राजस्व बन्दोबस्त किसके साथ किया जाय और आकलन की अवधि तथा रकम संबंधी बन्दोबस्त की शर्तें क्या होनी चाहिए? अंग्रेज एक ऐसी प्रणाली विकसित करना चाहते थे जो राजस्व की वसूली का खर्च कम कर निश्चित समय पर वसूल किये जाने के उद्देश्य को पूरा कर सके।

जब लार्ड कार्नवालिस भारत पहुँचा तो उसने देखा कि कृषि और उद्योग का खस्ता हाल है। जमींदार और रैयत दोनों ही गरीबी और तंगहाली के शिकार हैं और सिर्फ महाजनी समुदाय फल–फूल रहा है। इसका मुख्य कारण उस समय की प्रचलित कृषि भूमि प्रणाली थी और उसने सोचा कि इससे बाहर निकलने का रास्ता जमींदारों के साथ भूमि राजस्व का स्थायी बन्दोबस्त है।

लार्ड कार्नवालिस के दिमाग में इसके बारे में जो मॉडल था वह थोड़े में इस प्रकार है: जमींदारों के साथ स्थायी बन्दोबस्त उन्हें कम्पनी शासन का पक्का दोस्त बना देगा और नतीजे के तौर पर ग्रामीण इलाकों में शांति और स्थिरता का एक ऐसा माहौल पैदा कर देगा जो कृषि अर्थव्यवस्था पर अनुकूल असर डालेगा। सरकारी भूमि राजस्व मांग की स्थायी सीमा भूमि राजस्व

मामलों में काफी हद तक निश्चिन्तता और व्यवस्था लाने के साथ–साथ जमींदारों को जंगल की सफाई करने और जोत के क्षेत्र को फैलाने की प्रेरणा देगी। स्थायी बन्दोबस्त सरकारी राजस्व माँग की समय पर नियमित अदायगी को सुनिश्चित करेगा और इसके साथ ही सरकार व्यापक इंतजाम करने के बोझ से मुक्त हो जायेगी। जमींदार लाभान्वित होंगे, क्योंकि सरकारी राजस्व मांग की स्थायी सीमा तथा जोत के तहत क्षेत्र के विस्तार के चलते बढ़े हुए रैयती लगान और भविष्य में रैयतों के साथ नये बन्दोबस्तों में लगान की दर में बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप उनकी आमदनी बढ़ती चली जायेगी। राजस्व के ठेकेदारों के विपरीत यह मान लिया गया कि जमींदारों को अपनी जमींदारी में एक स्थायी स्वार्थ होगा और वे अपनी बढ़ी हुई आमदनी का एक हिस्सा काश्तकारों को भौतिक प्रोत्साहन और सुविधाएँ देने पर खर्च करेंगे ताकि काश्तकार जोत के तहत क्षेत्र को विस्तारित और कृषि उत्पादकता को बढ़ा सकें और इसके नतीजे के तौर पर नये बन्दोबस्तों के लगान की दर आगे बढ़ जाये।

जहाँ तक काश्तकारों का संबंध था उनके प्रचलित परम्परागत अधिकारों का संरक्षण पूरे तौर पर किया जाना था। इस जमींदारों द्वारा उन्हें पट्टा देकर किया जाना था। पट्टा एक लिखित दस्तावेज था जिसमें काश्तकार लगान की निश्चिंतता का हकदार था और उसे जमींदार की मर्जी से बेदखल नहीं किया जा सकता था। इसके साथ ही उसे उत्पादन संबंधी फैसलों के बारे में पूरी स्वायत्तता दी जाती थी। इस प्रकार स्थायी बन्दोबस्त के निर्माणकर्ता पट्टा नियमों के जरिए यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि काश्तकारों को बढ़े हुए उत्पादन का लाभ मिले ताकि उन्हें निवेश बढ़ाकर कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिले। चूँकि काश्तकार पर जमींदार की लगान संबंधी मांग को सीमित करने का प्रयास किया था और अब अबवाब पर रोक लगा दी गई थी इसलिए यह आशा की जाती थी कि काश्तकार के रहन–सहन के स्तर में सुधार होगा।[1]

चिंतन के इस ढ़ाँचें के साथ, बन्दोबस्त को स्थायी बना दिये जाने के विचार से सन् 1789 में जमींदारों के साथ एक वार्षिक बन्दोबस्त किया गया। 1793 में उस बन्दोबस्त को स्थायी घोषित कर दिया गया। जमींदारों को जमीन पर स्वामित्व के अधिकार दिये गये। सरकारी राजस्व मांग को आमतौर पर प्रचलित लगान का 10/11 निश्चित किया गया और तमाम आने

वाले समय के लिए उसी पर उसे सीमित कर दिया गया। इसके साथ ही जमींदारों को बिना चूक किये सरकारी राजस्व मांग को अदा करना था।

कार्नवालिस का विचार था कि इस प्रणाली पर अमल के बाद अपने कुप्रबंध और नतीजे के तौर पर सरकारी राजस्व मांग समय पर नहीं अदा करने के फलस्वरूप बुरे जमींदार समाप्त हो जायेंगे और उनमें से दक्ष और अच्छे ही बचे रह जायेंगे। कार्नवालिस ने जिस मॉडल को रेखांकित किया था उसके अनुरूप स्थायी बंदोबस्त पर अमल नहीं हो सका। समय के बीतने के साथ–साथ सरकार की एकमात्र चिंता निश्चय समय पर राजस्व मांग की वसूली रह गई। इस उद्देश्य के लिए उसने सर्वाधिक कड़े नियम पर अमल किया। लगभग एक शताब्दी तक स्थायी बंदोबस्त के समय के उस वायदे को पूरा नहीं किया गया कि जमींदार काश्तकार संबंधों को ऐसे सुव्याख्यायित आधार पर स्थापित किया जायेगा जिससे कि तोड़–जोड़ या अनिश्चितता की कोई गुंजाइश नहीं रहे।[2]

पट्टा नियमों पर शायद ही कभी अमल किया गया और सरकार ने उन्हे लागू करने के लिए यंत्र विन्यास का निर्माण नहीं किया और न जमींदारी लेखा और अधिकारों के अभिलेखों को सुरक्षित रखने के लिए किसी स्वतंत्र तंत्र का निर्माण किया गया। स्थायी बन्दोबस्त वाले इलाकों में पटवारी की संस्था लागू करने का प्रयास मखौल बन कर रह गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ के पहले कभी विश्वसनीय अधिकारों के अभिलेख मौजूद नहीं थे। काश्तकारी और लगान के बारे में काफी अनिश्चितता थी। काश्तकार अपने द्वारा की गई कुल अदायगी की उचित रसीदें नहीं पाते थे।[3]

समय बीतने के साथ बड़ी जमींदारियों की लगान की आमदनी बढ़ते जाने के नतीजे के तौर पर मध्यवर्ती भूधृतियाँ बड़ी संख्या में पैदा हो गई। सार्वजनिक नीलामी में सबसे ऊँची बोली लगाने वाले जरूरतदार ये स्थायी भूधृति धारक ही हुआ करते थे। उन्हें इन अधिकारों की जरूरत इसलिए पड़ती थी कि वे काश्तकारों को कोई खास फसल जैसे नील उपजाने या किराया या अबवावब के रूप में ज्यादा से ज्यादा भुगतान करने के लिए मजबूर कर सकें। कुल मिलाकर मध्यवर्ती भूधृति धारक परजीवी वर्ग का ही एक रूप थे और वे शायद ही उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेते थे या खेती के सुधार में कोई योगदान करते थे। उनका एकमात्र उद्देश्य अधिशेष

उत्पादन में हिस्सा लेना और जमींदारी अधिकारों का इस्तेमाल कर सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल करना था। अधिकांश रूप में परजीवी चरित्र के समूहों की बड़ी संख्या सामाजिक उत्पादन में हिस्सेदारी बचत और पूंजी संचय के अनुरूप नहीं थी। इस घटनाक्रम के दूसरे घातक परिणाम भी थे। उदाहरण के लिए मध्यवर्ती भूधृति धारकों के फैलाव ने अन्यत्रवासिता की नकारात्मक विशिष्टताओं को बढ़ा दिया। जमींदार अपने काश्तकारों से और भी अलग हो गया और उनकी भलाई में उसने दिलचस्पी खो दी। वह महज वार्षिकी ग्राही बनकर रह गया। दरम्यानी काश्तकारी की प्रणाली रैयतों के अधिकारों के लिए नुकसानदेह थी क्योंकि 1899 तक किसी को भूधृति धारकों ने लगान की रसीदें शायद ही कभी दी। वे रैयतों के हाथों में कोई ऐसा दस्तावेजी सबूत देना पसंद नहीं करते थे जिसका इस्तेमाल कब्जे के अधिकारों को हासिल करने और नतीजे के तौर पर लगान की स्थिरता के लिए किया जा सके। भूधृति धारक न तो उचित जमींदारी अभिलेख सुरक्षित रखते थे और न जमींदारों को कोई अभिलेख अर्पित करते थे।[4]

1793 के नियम में प्रावधान था कि खुद काश्त रैयत के लगान की रकम सुस्थापित परगना दर से कभी अधिक नहीं होनी चाहिए। अगर इस परगना दर की व्याख्या काफी स्पष्ट तरीके से कर दी गई होती तो इस प्रावधान के तामील से अपने रैयतों पर जमींदारी की मांग सीमित हो जाती और प्रचलित लगानों की तमाम बढ़ोतरियों का अंत हो जाता। वह जमींदारों को सिर्फ बंजर जमीनों के उद्धार के जरिए ही अपनी लगान प्राप्तियों को बढ़ाने के लिए बाध्य कर दिया होता। जैसा कि निश्चय ही स्थायी बंदोबस्त के निर्माताओं का इरादा था। चम्पारण की एक सरकारी रिपोर्ट में एक मानदंड के रूप में परगना दर की व्यर्थता साफ तौर पर उजागर हो गई उसमें कहा गया थाः

''वे परगना दरें लेखकगण मौजूद थीं लेकिन नाम के लिए, और पूरे परगना के लिए एक दर होने के बजाय कुछ मामलों में एक गांव में एक दर्जन दरों से कम दरें नहीं थीं यह स्थिति पट्टा पर अमल के लिए 1793 के नियम को लागू करने के रास्ते में एक जबर्दस्त रूकावट थी। थोड़े में, न सिर्फ लगान दरों बल्कि प्रचलित माप के मानदंडों की असाधारण विविधता भी रैयतों की हिफाजत के लिए बनाये गये इस नियम के सफल होने की सबसे कम आशा थी।''[5]

यह पाया गया था कि सिर्फ किसी परगना में ही लगान दर में एकरूपता नहीं थी बल्कि मिट्टी और भूखंड की स्थिति की गुणवत्ता में अंतर के बावजूद एक गाँव तक में भी बहुत सारी लगान दरें थी। आम तौर पर एक ही किस्म की जमीन के लिए ऊँची जातियों के लोग दूसरों की अपेक्षा कमतर लगान देते थे। दिसम्बर 1882 में फिनुकेन ने राजस्व बोर्ड को नरहन जमींदारी जो दरभंगा, मुजफ्फरपुर और मुंगेर जिलों के 259 गांवों में फैली थी, के बारे में निम्न रिपोर्ट भेजी थीः

मैंने दरों को अंतहीन विविधता के उद्गम स्थल का पता लगाने का प्रयास किया है। लेकिन मैं यह जरूर कबूल करूँगा कि मैं कोई बहुत संतोषजनक खुलासा हासिल करने में कामयाब नहीं हूँ। इसमें शक नहीं कि आंशिक रूप में दरों की विविधता जाति विभेदों के चलते है क्योंकि एक ही बाधा या भूखंड में नियमतः बाभनों की अपेक्षा कोईरी लोग उच्चतर दरें अदा करते हैं। लेकिन दूसरी ओर, जाति ही एकमात्र कारण नहीं है क्योंकि एक ही गुणवतत्ता वाले भूखंडों जो बाभनों के ही कब्जे में है, में एक बाभन दूसरे बाभन से उच्चतर दर अदा करता है, हालांकि दोनों के खेत आमने–सामने और एक ही गुणवत्ता वाले हैं।''[6]

फिनकेन ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि मिट्टी की गुणवत्ता और भूखंड की स्थिति में काफी अंतर नहीं था फिर भी लगान की दरों में व्यापक विविधताएँ थी। दूसरे अधिकारी एच. एम. टोविन ने शाहाबाद जिले के बारे में ऐसी ही रिपोर्ट दी थी। 31 अगस्त 1882 को उसने ऐसे गांवों की एक सूची भेजी जिनमें लगान की दरें बहुत विविध थीं। तीन सप्ताह के बाद उसने लिखा थाः

''उन गांवों में जहाँ प्रचलित दरें असंख्य हैं, बहुत सारे मामले में वे जमीन के असली मूल्य के अनुपात में नहीं है। उन गांवों में जहाँ दरों की एकरूपता है, उनके सापेक्षिक मूल्य का विचार किये बिना मनमाने ढ़ंग से विभिन्न मिट्टियों के लिए एक ही दर लागू की गई है।''[7]

इस प्रकार, जिस ढ़ंग से स्थायी बंदोबस्त को बनाया गया और उस पर अमल किया गया, उसने जमीन की जोत में निहित हितों वाली देहाती आबादी के विभिन्न तबकों में फूट का बीज बो दिया। लगभग एक शताब्दी तक सरकार की ओर से अपनायी गई कम से कम हस्तक्षेप की नीति ने देहाती इलाकों में विभिन्न प्रकार के तनावों और द्वंद्वों को उत्पन्न कर दिया। जब पबना में 1873 में गंभीर खेतिहर उपद्रव हुए केवल तभी सरकार हिली और प्रचलित काश्तकारी

कानून में सुधार की आवश्यकता की और उसका ध्यान गया। 1874 के अकाल आयोग ने रैयत जमींदार संबंधों को निश्चित और सुदृढ़ आधार पर कायम करने की तात्कालिकता को रेखांकित किया। नतीजे के तौर पर लगान कानून आयोग की नियुक्ति हुई।

यह अनुभव किया गया कि बिहार में जरूरत इस बात की है कि रैयतों को ऐसा कानूनी आधार मुहैया कराया जाय ताकि वे गैर कानूनी जब्ती, गैर कानूनी बढ़ोत्तरी और गैर कानूनी उपकरों का प्रतिरोध कर सकें और अपने कब्जे के अधिकारों को साबित करने और उन्हें सुरक्षित रखने की स्थिति में हो। बिहार लगान कानून आयोग जिसकी सिफारिशों पर लगान कानून आयोग निर्भर था, उसमें जमींदारी लेखा को रखने की प्रणाली में सुधार करने, पट्टा और कबूलियत का अनिवार्य आदान–प्रदान करने, लगान की रसीदों को प्रदान करने और रैयतों की मौजूदा जोतों के साथ नई जमीनों के समिश्रण को रोकने जैसे कदम 'रैयतों को कोई नये अधिकार प्रदान नहीं करेंगे। वे जमींदारों पर कोई नये दायित्व नहीं थोपेंगे। वे अधिकांश रूप से महज मौजूदा कानून की घोषणा और व्याख्या करेंगे और वे उन अधिकारों के साथ पूरे तौर पर मेल खाते हैं जो स्थायी बन्दोबस्त द्वारा प्रदान किये गये थे।'[8]

लगान कानून आयोग की रिपोर्ट का अध्ययन करते हुए सरकार ने अनुभव किया था कि 'उन लोगों को जो जोतते–बोते हैं और जिन्हें काटना भी चाहिए, अपने उद्योग के फलों को हासिल करने का कोई उचित आश्वासन नहीं है।'[9] इस प्रकार, 'स्थायित्व की शर्तों द्वारा सुनिश्चित और लगान को मनमानी बढ़ोतरी से संरक्षित जोतों की प्रणाली की प्रवृति सम्पत्ति के संचयन को बढ़ाने, कर्ज के स्वस्थ विकास और खेतिहर सुधार की प्रगति की होगी।'[10] सरकार का इरादा बहुत साफ था– वह रैयतों को सुनिश्चित निपरापद और सुस्पष्ट काश्तकारी अधिकार देना चाहती थी ताकि उनके द्वारा उत्पन्न समस्त अधिशेष उत्पादन नहीं हड़प लिये जायें और पूंजी का संचय हो जिससे कि खेतिहर उत्पादकता बढ़ जाय। उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बंगाल काश्तकारी विधेयक पेश किया गया जो कि अंततः 1885 का बंगाल काश्तकारी अधिनियम बन गया।

संदर्भ सूची :–

1. रिपोर्ट ऑफ द लैंड कमीशन, बंगाल, खंड–1, कलकत्ता, 1940: गवर्नमेन्ट ऑफ बंगाल।
2. गिरीश मिश्र, एग्रेरियन प्रॉब्लम्स ऑफ परमानेंट सेटलमेंट, नई दिल्ली, 1978।
3. वही, पृ. 123–59।
4. वही, पृ. 309–10
5. सी. जे. स्टीवेंशन, मूर, फाइनल रिपोर्ट आन द सर्वे एंड सेटलमेंट ऑपरेशन्स इन द चम्पारण डिस्ट्रिक्ट (1892–99), कलकत्ता, 1900. पृ. 29।
6. रिपोर्ट ऑफ द गवर्नमेंट ऑफ बंगाल आन द बंगाल टिनेसी एक्ट, 1863, खंड–2, कलकत्ता, 1883, पृ. 441।
7. वही, पृ. 461–62।
8. वही, पृ. 246।
9. सेलेक्सन्स फ्रॉम पेपर्स रिलेटिंग टू द बंगाल टिनेसी एक्ट, 1885, कलकत्ता, 1920।
10. वही, पृ. 11।

♦♦♦♦♦